

मातृशक्ति भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में -

विधाता ने स्त्री और पुरुष रूप में अपने शरीर को दो भागों में बाँट कर सृष्टिचक्र प्रवर्तित किया था। इस प्रकार जीवनरथ के दो पहियों की तरह स्त्री - पूरक भाव से समान महत्त्व रखते हैं। इनकी उक्त-और पुरुष परस्पर पूर्यसमानता की अवधारणा से भी आगे जाकर भारतीय संस्कृति में स्त्री को शक्ति स्वरूपा माना गया है जिसके कारण जैसे शक्ति के बिना शिव भी केवल शव मात्र रह जाता है वैसे ही स्त्री के बिना पुरुष भी निष्क्रिय और व्यर्थ हो जाता है। अतः भारत और भारतीय संस्कृति तथा समाज में स्त्री का स्थान एक साथ समानता और सर्वोच्चता के आदर्श पर टिका हुआ है। जहाँ एक ओर जीवनरथ के दो पहियों के रूप में उनका महत्त्व सर्वथा समान है वहीं नर की खान के रूप में माता, भगिनी, पत्नी और पुत्री जैसी मातृशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में वह मातृत्व और धात्रीत्व के कारण स्वर्गादपि गरीयसी होकर सर्वोच्चता के पद पर भी प्रतिष्ठित है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'- अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं। पुनश्च -'शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्यांशु तत् कुलम्' अर्थात् जहाँ उपेक्षा आदि के कारण स्त्रियाँ दुःखी रहती हैं वहाँ वह कुल शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है हमारे -धर्मशास्त्रों के उक्त वचनों का तात्पर्य और मर्म स्त्री की शक्ति और महिमा का ही अन्वाख्यान है। जब महान् शास्ता भगवान् मनु यह कहते हैं कि-

'सहस्रां त पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते'-अर्थात् गौरव की दृष्टि से माता आचार्य से भी बड़े पिता से भी हजार गुना बढ़कर है शक्ति के -तब वे मातृ-रूप में पारिवारिक पाठशाला की प्रथम ममतामयी गुरु के रूप में स्त्री का ही गौरव -गान कर रहे हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि

'सर्व वन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः।' अर्थात् जो सबके लिये - है उस संन्यासी को भी माता की वन्दना प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए।-पूज्य-वन्दनीय

अस्तु, हमारे शास्त्रों में जहाँ स्त्री की इतनी महिमा वर्णित की गयी है वहाँ उसकी महत्ता और मर्यादा को देखते हुए उसे सदा संरक्षण देने की बात भी कही गयी है। जैसे ऊर्जा को यदि खुला और अनियन्त्रित छोड़ दिया जाय तो वह व्यर्थ और विनाशक भी हो सकता है, वैसे ही शक्ति स्वरूपा स्त्री को भी स्वतंत्रता की नहीं, उपयोगी रूप में संरक्षण और चैनलाइजेशन की आवश्यकता है। इसीलिए जो शास्त्रों में कहा गया है कि-

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।

बालाः स्थविरे रक्षन्ति न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्रीशक्ति की रक्षा बचपन में पिता करता है-, यौवन में पति करता है तथा बुढ़ापे में उसकी रक्षा पुत्र करता है इस प्रकार स्त्री सर्वथा स्वतंत्र या -मुक्त छोड़ने योग्य नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि शास्त्रकारों के स्त्रियों की गरिमा मण्डित करने वाले अन्य वचनों के आलोक में-'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'-अर्थात् स्त्री स्वतंत्रता योग्य नहीं है, इस वचन का तात्पर्य स्त्री को पराधीनता नहीं ऊर्जा के रूप में उसके संरक्षण एवं नियंत्रण से है। क्योंकि इस प्रकार संरक्षित स्त्री शक्ति की ऊर्जा ही महापुरुषों की जन्मदात्री और धात्री बनती है तथा आवश्यकतानुसार स्वयं भी घर से रणभूमि तक प्रकट होकर आसुरी शक्तियों का संहार करती है।

अनसूया, सीता और सावित्री जैसी सतियों ने; अपाला, मञ्जुघोष और गार्गी जैसी विदुषियों ने; कुन्ती, मदालसा, कौशल्या, यशोदा और जीजाबाई सदृश माताओं ने तथा दुर्गावती, पद्मिनी और लक्ष्मीबाई जैसी वीरांगनाओं ने वैदिक काल से अब तक अपने बहु आयामी कृतित्व एवं व्यक्तित्व से जिस प्रकार देश और जाति का मानवर्धन किया है वह पूर्ववत्, आज भी कीर्तिनीय और अनुकरणीय है। स्वतंत्रता संग्राम में भी कितनी माताओं, बहनों और बेटियों ने पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर तथा स्वतंत्र रूप में भी अदम्य साहस एवं त्याग बलिदान के साथ जो उल्लेखनीय कार्य किया है वह कदापि भुलाया नहीं जा सकता है। स्वतंत्र

भारत में भी स्त्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रधानमंत्री की कुर्सी तक पहुँच कर जिस प्रकार अपनी योग्यता और पात्रता सिद्ध की है तथा आज भी कर रही हैं वह किसी से छिपा नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस देश के इतिहास एवं वर्तमान को दिशा देने में पुरुषों के समान ही और कभीकभी तो उनसे बढ़कर भी स्त्रियों का योगदान रहा है। किन्तु उपर्युक्त तथ्य पूर्ण स्थापना के बावजूद हजार साल की गुलामी के कालखण्ड में शनैः-शनैः स्त्रियों की स्थिति जिस प्रकार कमजोर होते हुए चूल्हेशैक्षिक -चौके तक सिमट कर रह गयी-, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उनमें पिछड़ापन आ गया है, वह भी आँकड़ों से सिद्ध एक वास्तविकता है। पुरुष वर्चस्व की महत्त्वाकांक्षा ने दम्भवश उसे अपने से सर्वथा कम और हीन मानकर उसकी भूमिका चूल्हेचौके और सन्तानोत्पादन तक सीमित कर-, जिस प्रकार उसकी उपेक्षा की उससे न केवल स्त्री के सम्बन्ध में हमारी प्राचीन आदर्श व्यवस्था का उल्लंघन हुआ बल्कि ऊर्जा की इस अजस्र स्रोतस्विनी का बहुआयामी विकासशील उपयोग भी अवरुद्ध हो गया जिससे घरपरिवार और समाज तो प्रभावित हुआ-, हीनताबोध से ग्रस्त होकर स्त्री सचमुच पिछड़ गयी और फिर जैसे दीनोंही-नों का शोषण होता है वैसे ही उसका भी शोषण और तिरस्कार हुआ। परिवार में उसे पुत्र के समान महत्त्व नहीं दिया गया, दहेज की सामाजिक समस्या में भी उत्पीड़न की शिकार वही हुई, निःसंतान होने पर विधवा होने पर वही लांछित और प्रताड़ित हुई। अस्तु, स्त्री जाति एवं समाज का यह शोषित और तिरस्कृत रूप न तो पहले कभी हमारे मनीषियों को स्वीकार था न अब हो सकता है। यदि हमारी लोकयात्रा के किसी कालखण्ड में परिस्थितिवश हमारे जीवन दर्शन के किसी विकृत सोच के कारण स्त्रियों की जीवन दशा में गिरावट आयी है, उनमें पुरुषों के समान ही तथा उनसे भी बढ़कर सामर्थ्यशाली सृजन और संहार की निहित शक्ति का लोप हो गया है तो उसे पुनः परम्परागत आदर्श के आलोक में तदनुरूप व्यवस्थित और स्थापित करना होगा। अन्यथा पश्चिम से आ रही नारी स्वतंत्रता की अविचारित रमणीय आँधी प्रकारान्तर से उन्हें उखाड़कर कुएँ से निकालकर खाई में डाल देगी और इस

प्रकार घर परिवार एवं समाज के निर्माण में, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और मातृभूमि को परमवैभव तक पहुँचाने में उनकी अपेक्षित भूमिका बाधित होगी।

भारत में महिलाएँ अर्थात् हमारी मातृशक्ति सम्पूर्ण जनसंख्या का 48 प्रतिशत है अर्थात् प्रति महिलाएँ हैं। इतनी बड़ी जनसंख्या 927 पुरुषों पर 1000 शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से यदि विपन्न रहती है तो स्पष्ट है कि हमारा राष्ट्र और लोकतंत्र भी सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिये महिलाओं को और ज्यादा शक्ति एवं सम्मान देने के प्रश्न पर तो कोई मतभेद ही नहीं है और सभी इस बात से भी सहमत हैं कि राष्ट्र और समाज जीवन में सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाई जाए। इसके लिये जहाँ स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न को रोकने के लिये समयसमय पर कई कानून बने हैं-, वहीं संविधान में भी उन्हें बराबरी का दर्जा देकर अवसरों की समानता दी गयी है जिसके परिणामस्वरूप सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की जागरूकता और भागीदारी में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। कई क्षेत्रों में तो उन्होंने पुरुषों को पीछे भी छोड़ दिया है। लेकिन ऐसा कुछ जितने भी परिमाण में हुआ है वह शहरी क्षेत्रों में तथा सुविधा सम्पन्न परिवारों में ही हुआ है। देहाती क्षेत्रों में आम तौर पर स्त्रियों की दशा में अपेक्षित सुधार अभी भी प्रतीक्षित है। कुल मिलाकर अभी भी जो आँकड़े सामने आये हैं उनके आलोक में स्त्रियों को उनकी जनसंख्या के आधार पर पुरुषों की बराबरी में लाने के लिये बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। स्नातक स्तर तक स्त्रियों की निःशुल्क शिक्षा, स्थानीय निकायों एवं पंचायत आदि में उनके लिये स्थान, आरक्षण आदि के उपाय विविध क्षेत्रों में उनकी भागीदारी बढ़ाने के लिए ही किये गये हैं। संसद और विधान सभाओं में महिलाओं के लिए प्रतिशत आरक्षण का वर्तमान प्रस्ताव भी इसी 33 प्रयास की एक कड़ी है। किन्तु जहाँ महिलाओं की दशा सुधारने, उनकी भागीदारी बढ़ाने के मामले में सभी दलों में प्रायः सहमति है वहीं संसद तथा विधानसभाओं में इनके लिए प्रतिशत स्थान आरक्षित करने के सवाल पर कई तरह के 33 मतभेद उभर कर सामने आये हैं, जिनके कारण अन्यथा सहमति के बावजूद

आरक्षण एवं इसके प्रतिशत पर विवाद की स्थिति बन गयी है जिस पर विचार करना आवश्यक है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय समाज में पहले से ही आरक्षण को लेकर एक दरार पड़ चुकी है। संवैधानिक स्थिति एवं कानूनी दर्जा पाने के कारण आरक्षण का प्रत्यक्ष विरोध भले ही दब गया हो किन्तु आरक्षण के कारण योग्यता के बावजूद अवसरों से वंचित वर्गों और लोगों के मनोमस्तिष्क में व्यापक असन्तोष तो है ही। ऐसी स्थिति में पहले से ही पड़ी दरार और चौड़ी न हो और न ही कोई दूसरी दरार पैदा की जाय यह हमारी कोशिश होनी चाहिये। इसलिये पहले कुछ सवाल महिला आरक्षण समर्थकों से-

1. संविधान के अनुसार जाति, लिंग और सम्प्रदाय के आधार पर भारत के नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। इस आलोक में क्या लिंग के आधार पर आरक्षण उचित और संविधान सम्मत है? यदि हाँ तो कैसे? और यदि नहीं तो अगड़ेपिछड़े के बीच भेदभाव लागू कर आरक्षण के कारण पहले ही पड़ी दरार को - अब स्त्री और पुरुष के बीच भी लिंग के आधार पर दरार डालकर परिवार और समाज का संकट क्यों बढ़ाना चाहते हैं। क्या इस प्रकार का कलह कल्याणकारी होगा?

2. महिलाओं के लिये उनके पिछड़ेपन के कारण आमतौर पर यदि आरक्षण आवश्यक है तो फिर क्यों 33 प्रतिशत ही हो? इससे कम क्यों नहीं, ज्यादा क्यों नहीं? क्योंकि यह प्रतिशत तो महिलाओं की प्रतिशत जनसंख्या के गणित से भी 48 मेल नहीं खाता।

3. यदि आम तौर पर महिलाओं को पिछड़ा मान लिया गया है तो फिर कुछ लोग महिलाओं के लिए प्रस्तावित प्रतिशत आरक्षण में पिछड़ी जाति और 33 प्रतिशत में स्थान आरक्षित करने 33 ईसाई तथा मुस्लिम महिलाओं के लिये पुनः

की बात क्यों करते हैं? क्या महिलाओं के आमतौर से पिछड़ेपन पर राजनीति की जानी चाहिए?

4. यदि महिलाओं के पिछड़ेपन से द्रवीभूत होकर उनकी उन्नति और भागीदारी के लिए संसद और विधानसभाओं में आरक्षण को आरक्षण समर्थक दलों के लोग इतना आवश्यक समझते हैं कि लिंग के आधार पर नागरिकों में भेदभाव न करने की संवैधानिक व्यवस्था को बदल कर सचमुच महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित करना चाहते हैं तो उन्होंने इसके लिये पहले अपनेअपने - पार्टी संविधानों में संशोधन कर उक्त प्रतिशत स्थान आरक्षित करने का कार्य क्यों नहीं किया? यदि इस प्रश्न पर पार्टी में सहमति थी और है तो उन्होंने क्यों नहीं किया?

अस्तु, अब कुछ सवाल महिला आरक्षण विरोधियों से भी-

1. जब शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से महिलाओं का पिछड़ापन आँकड़ों से प्रमाणित एक वास्तविकता है तब अन्य क्षेत्रों के समान विधायिका में भी उनके आरक्षण का विरोध क्या उचित है?

2. क्या इसमें पुरुषों के अहं और वर्चस्व के स्वार्थ को धक्का लगाने का खतरा ही उन्हें महिला आरक्षण के विरोध के लिये प्रेरित नहीं कर रहा है?

3. क्या तथाकथित पिछड़ी जनजातियों के लोगों को यह खतरा महिला आरक्षण विधेयक के विरोध के लिये नहीं प्रेरित कर रहा है कि इससे उनका 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व बाधित हो सकता है और यह भी कि उनकी पिछड़ी बिरादरी की महिलाओं की जगह सवर्ण जाति की महिलाएँ चुनकर संसद और विधानसभाओं में पहुँच सकती हैं?

यदि सम्यक रूप से विचार करें तो महिला आरक्षण के समर्थन एवं विरोध की दोनों स्थितियाँ किसी न किसी स्वार्थ से प्रेरित और प्रभावित हैं। हमें

इन दोनों पक्षों से सावधान रहते हुए महिलाओं के वास्तविक हित साधन, उन्नयन और उत्थान को अपने घर परिवार और समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही देखना संगत होगा। एक व्यावहारिक नियम भी है कि कोई भी सुधार कम से कम विरोध के मार्ग से हो और लोगों को मानसिक दृष्टि से उसके लिये तैयार करके किया जाये। इस दृष्टि से यदि देखें तो महिलाओं के लिये संसद तथा विधान सभाओं में प्रतिशत आरक्षण के मुद्दे पर स्वार्थवश ही सही 33, लोगों में भारी असंतोष एवं विवाद उभरकर समने आया है इसलिये किसी आग्रहवश ऐसा कुछ करने की कोई उतावली नहीं होनी चाहिये, जिसके चलते पहले से ही जाति और सम्प्रदाय के आधार पर विभाजित समाज लिंग के आधार पर भी विभाजित होकर समन्वित विकास की संभावनाओं को धूमिल कर दे। सच तो यह है कि सम्प्रति महिलाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह शिक्षा का हो या समाज सेवा का, चाहे राजनीति का हो, चाहे कारोबार का, प्राप्त अवसर का सदुपयोग कर संघर्ष करते हुए अपना स्थान बनाती चली जा रही हैं और यदि यही स्थिति रही तो वह दिन दूर नहीं जब वे पुरुषों से किसी मायने में कम नहीं रह जायेंगी? अतः जो विकास स्वाभाविक रूप से, स्वयं स्फूर्त रूप से घटित हो रहा है उसे हड़बड़ी में आरोपित और विकृत करने की आवश्यकता नहीं है। अभी कई स्तरों पर महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित किये गये हैं। ग्राम सभाओं, पंचायतों तथा अन्य स्थानीय निकायों में आरक्षण के बाद इनकी स्थिति की समीक्षा कीजिये। इससे घर परिवार में बच्चों की परवरिश में स्त्री की अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण भूमिका पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका आकलन कीजिये। यह तय कीजिये कि स्त्री को सक्रिय राजनीति में, बाहरी दुनियाँदारी में पुरुषों के समान ही हिस्सेदारी देने से कहीं हमारे परिवार की माँ, बहन, बेटी अपने स्वरूप और महत्त्व को तो नहीं खो देंगी। अभी तक तो जो देखने को मिल रहा है वह बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। फिर भी अभी प्रयोग के स्तर पर इसे चलाने की आवश्यकता है। जब प्रयोग से एवं अनुभव से इसका सुफल सिद्ध हो जाय तब और केवल तब ही संसद और विधानसभाओं में भी महिलाओं को

आरक्षण की बात की जाये और तब केवल प्रतिशत ही क्यों 33, उनकी जनसंख्या के अनुसार आरक्षण लागू हो।

महिलाओं को पुरुषों की तरह बनाने में और भी कई खतरे हैं जैसे कि-

(क) स्त्री पुंवत् च प्रभवति यदा तद्धि गेहं प्रणष्टमर्थात् जब स्त्री पुरुष - के समान प्रभावी हो जाती है तो घर नष्ट हो जाता है।

(ख) तालीम लड़कियों की लाजिम तो है मगर।

खातूनखाना हों वे सभा की परी न हों।।-ए-

तथा पुनः (ग) पुरुषों में यदि पुरुषोचित गुणों के साथसाथ स्त्रियों के भी - गुण आ जायें तो वे देवता हो जाते हैं किन्तु यदि स्त्रियों में पुरुषों के गुण आ जायें तो वे राक्षस हो जाती हैं। ऐसा सुभाषितों में अंकित हुआ है। इन सुभाषितों के निहितार्थ गंभीर रूप से विचार करने योग्य हैं क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि- 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्', अर्थात् चले थे गणेश जी बनाने बना बैठे वानर, की उक्ति न चरितार्थ हो। इसलिये पश्चिम से आयी नारी मुक्ति के विविध आयामों की गंभीरता से अपने देश, समाज और संस्कृति के संदर्भ में समीक्षा होनी चाहिये तभी इस सम्बन्ध में कोई अहम फैसला किया जाय। माता, पत्नी, बहन और पुत्री, नारी के जितने भी रूप हैं हमें प्राणों से भी प्यारे हैं। हम इनकी रक्षा तथा प्रतिष्ठा के लिये कुछ भी कर गुजरने को तत्पर रहते हैं और स्त्री भी तो अपने पिता, पति, भाई और पुत्र के लिये कौन सा बलिदान नहीं कर देती। जिस समाज में ऐसी स्थिति है वहाँ पश्चिम की नकल में स्त्री और पुरुष के बीच प्रतिद्वंद्विता पैदा करने, एक दूसरे को मात देने या अपनी मुक्ति के नाम पर अपने ही प्रिय और आत्मीय जनों के प्रति आक्रोश या नफरत का बीजारोपण हम क्यों करें? और यदि हम ऐसा कुछ बाहरी प्रभाव और प्रवाह में कर डालें तो उनसे क्या हमारा समाज और सशक्त होगा? जहाँ तक मैं समझता हूँ कि इन अविचारित रमणीय दबावों का परिणाम दारुण ही होगा। इसलिये आवश्यक होने पर भी ऐसा तभी किया जाये जब

स्त्री और पुरुष में सद्भावनापूर्वक आपसी समझ तथा सामंजस्य की भावना हो, अपने घर परिवार और समाज को अधिकाधिक सुखी स्वस्थ और सशक्त बनाने की तत्परता हो। अस्तु, स्त्रियों के देशकालोचित सम्यक् विकास की कामना करते हुए, उन्हें पुरुषों के बराबर ही, उनसे बढ़कर मानते हुए उनके मातृत्व और शक्तित्व की अवधारणा को हम मूर्त रूप में प्रतिफलित देखना चाहते हैं ताकि पूर्ववत् हमारे समाज और राष्ट्र श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, महाराणा प्रताप आदि जैसे महापुरुषों तथा कुन्ती, मदालसा, सीता, सावित्री, पद्मिनी और लक्ष्मीबाई जैसी महिलाएँ पुनः पैदा हों और मातृ भूमि पुनः-परमवैभव तक पहुँच सके।